

# वोट के नाम पर धर्म और जाति के उलझे धागे



पांच राज्यों उत्तर प्रदेश, पंजाब, उत्तराखंड, मणिपुर व गोवा के चुनावी कार्यक्रम की घोषणा के साथ ही विभिन्न राजनीतिक दल अपनी जीत को सुनिश्चित करने के लिये धर्म एवं जाति के कंधे पर सवार हो गयी है। जबकि धर्म और जाति के नाम पर वोट की राजनीति करना गैरकानूनी है। हाल ही में सर्वोच्च न्यायालय की सात न्यायाधीशों की संविधान पीठ ने अपने ऐतिहासिक फैसले में जाति, धर्म, भाषा और समुदाय के नाम पर वोट मांगने को गैर कानूनी करार दिया है लेकिन राजनीतिक दलों पर इसका कोई प्रभाव नजर नहीं आ रहा है, यह एक विडम्बनापूर्ण है। देश के लोगों ने इस फैसले का स्वागत किया है, लेकिन राजनीतिक दल चुनावी राज्यों में प्रतिकूल रवैया अपनाए हुए हैं। हालांकि राजनैतिक दल अपने "वोट स्वार्थ" के कारण इसे नकारते नहीं, पर स्वीकार भी नहीं कर पा रहे हैं। और कुछ नारे, जो अर्थ नहीं रखते सभी पार्टियां लगा रही हैं। धर्म और जाति की राजनीति का विरोध नेता नहीं, जनता कर रही है। वह नेतृत्व की नींद और जनता का जागरण है।

मतदाता जहां ज्यादा जागरूक हो रहा है, वहां राजनीतिज्ञ भी ज्यादा समझदार बनते हुए दिखाई दे रहे हैं। उन्होंने जिस प्रकार चुनावी शतरंज पर धर्म और जाति के काले-सफेद मोहरें रखे हैं, उससे मतदाता भी उलझा हुआ है। अपने हित की पात्रता नहीं मिल रही है। कौन ले जाएगा पांच राज्यों में जीत का सेहरा। सभी नंगे खड़े हैं, मतदाता किसको कपड़े पहनाएगा, यह एक दिन के राजा पर निर्भर करता है। लेकिन उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड, पंजाब में तो हर पार्टी उम्मीदवारों के चयन धर्म और जाति के आधार पर कर रही हैं।



समाजवादी पार्टी को मुस्लिम-यादव और पिछड़ों के वोट चाहिए। बसपा प्रमुख मायावती ने मुसलमानों

का टिकट कोटा बढ़ा दिया है। उनको तो दलित-मुस्लिम समीकरण पर भरोसा है इसीलिये मुस्लिम कोटे में बढ़ोतरी की। समाजवादी पार्टी और कांग्रेस ने भी जातिगत समीकरणों को साधने की कोशिश की है। महागठबंधन सफल न होने का फायदा भाजपा को ही मिलने वाला है। जाति को धर्म के नाम पर अब एकतरफा वोट नहीं जायेंगे। इसलिये उत्तर प्रदेश में भाजपा की नजरें सवर्ण वोट बैंक के साथ अल्पसंख्यक वर्ग के वोटों पर है। वहीं उत्तराखंड में उसे ब्राह्मण वोटों की दरकार है, इसी कारण नारायणदत्त तिवारी को पार्टी में जगह दी गयी है।

लगभग सभी दलों द्वारा विभिन्न जातियों एवं धार्मिक वोटों में समीकरण बैठाने की कोशिशें की जा रही हैं। कुछ राजनीतिक दल यह दलील देते हैं कि जाति और धर्म के आधार पर वोट मांगना गैर कानूनी हो सकता है लेकिन उम्मीदवारों का चयन करना पार्टी का अधिकार है। इस स्थिति में सर्वोच्च न्यायालय का फैसला लागू कराना चुनाव आयोग के लिए चुनौती है। इस बार दलों में जाति, भाषा एवं धर्म के नाम पर जितना अन्दर-बाहर होता हुआ दिखाई दे रहा है, उससे स्पष्ट है कि चुनाव परिणामों के बाद भी एक बड़ा दौर खरीद-फरोख्त का चलेगा। यह समय चुनाव आयोग के सम्मुख तो एक बड़ी चुनौती के रूप में है ही लेकिन मतदाता के लिये भी यह परीक्षा का समय है। अगर उसने बिना विवेक के आंख मूंदकर मत दिया तो परिणाम उस उक्ति को चरितार्थ करेगा कि "अगर अंधा अंधे को नेतृत्व देगा तो दोनों खाई में गिरेंगे।"

हम जात-पात का विरोध करते हैं, जातिवाद समाप्त करने का नारा भी दे रहे हैं और वोट की राजनीति भी करते हैं। सही विकल्प वह होता है, जो बिना वर्ग संघर्ष को उकसाये, बिना असंतोष पैदा किए, सहयोग की भावना पैदा करता है। और इसके लिये चुनाव से अधिक उपयुक्त कोई समय नहीं हो सकता। लेकिन यहां तो दवा ही दर्द बन जाती है। पांच राज्यों के चुनाव लीक से हटकर हो रहे हैं, कई चीजें इस बार नई हैं। देखना यह है कि क्या ये चुनाव बिना धर्म और जाति के आधार पर सम्पन्न होते हैं? सुप्रीम कोर्ट का फैसला लागू करने की जिम्मेदारी राजनीतिक दलों के साथ-साथ आम मतदाताओं की भी है। मतदाताओं को धर्म और जाति के नाम पर नहीं बल्कि राज्य व देश के विकास के लिए वोट देने होंगे।

एक अहम प्रश्न है कि हमारे देश में चुनाव बिना धर्म एवं जाति के आधार पर कब होंगे? क्योंकि राजनीति एक दुर्गंध बनती जा रही है। जहां हर किसी को दूसरों की कमीज काली दिखाई देती है। कोई भी अपने गिरेबां में झांकने में कोई दिलचस्पी नहीं लेता। "जो वोट की राजनीति से जुड़े हुए हैं, वे कानून और नीति में बंटे हुए हैं।" पं. नेहरू व बाबा साहेब अम्बेडकर ने भी सीमित वर्षों के लिए जाति आधारित संरक्षण की वकालत की थी तथा इसे राष्ट्रीय जीवन का स्थायी पहलू न बनाने को कहा था। डॉ. लोहिया का नाम लेने वाले शायद यह नहीं जानते कि उन्होंने भी कहा था कि अगर देश को ठाकुर, बनिया, ब्राह्मण, शेख, सैयद में बांटा गया तो सब चैपट हो जाएगा। वर्तमान में राजनीति अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिये देश को खोखला और चैपट कर रही है।

सर्वविदित है कि पिछले लोकसभा चुनाव में नरेन्द्र मोदी ने विकास का नारा दिया था परंतु मैदानी हकीकत यह थी कि अनेक मुद्दों पर जाति, भाषा एवं धर्म के आधार पर प्रचार किया गया। अब चूंकि सर्वोच्च न्यायालय ने यह स्पष्ट कर दिया है कि चुनावों में धर्म, जाति और भाषा का दुरुपयोग एक भ्रष्ट

आचरण समझा जाएगा। देखना है कि राजनीति पर कानून का कितना असर होता है ?

अपना निर्णय देते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने यह भी स्पष्ट किया कि धर्म को सिर्फ व्यक्ति तक सीमित रखना चाहिए और उसका उपयोग किसी भी सार्वजनिक और विशेषकर राजनीति में कतई नहीं करना चाहिए। चूंकि चुनाव में धर्म के उपयोग से अनेक लोग वोट कबाड़ने में सफल हो जाते थे इसलिए पिछले दिनों इस प्रवृत्ति को बहुत बढ़ावा मिला। राजनीति का सूत्र रहा है- दूसरों को देखना और धर्मनीति का सूत्र रहा है- अपने आपको देखना। इन चुनावों में धर्म की वकालत करने वाले अपने आपको कितना देखते हैं, क्योंकि धर्म जब अपनी मर्यादा से दूर हटकर राजनीति में घुल-मिल जाता है तो वह विष से भी अधिक घातक बन जाता है।

सभी राजनीतिक दल भले ही जातिवाद एवं धार्मिक राजनीति के खिलाफ बयानबाजी करते रहें, लेकिन चुनावी तैयारी जाति एवं धर्म के कार्ड को आधार बनाने के अलावा कोई रास्ता उन्हें दिखाई ही नहीं देता है। सच यह भी है कि यदि कोई भी दल परोक्ष रूप से जातिगत निर्णयों से बचना चाहे तो भी वह कुछ जातियों को नजरंदाज करने के आरोप से बच नहीं सकते, जैसे भाजपा में केशव प्रसाद मौर्य को प्रदेश अध्यक्ष बनाने पर यह कहा गया कि वहां पिछड़ी जातियों को आकर्षित करने के लिये यह कदम उठाया गया है और कांग्रेस द्वारा शीला दीक्षित को चुनावी चेहरा बनाने पर पार्टी के ऊपर ब्राह्मणों को रिझाने का आरोप लगा।

हम अक्सर राजनीतिक दलों पर स्वार्थ की राजनीति करने का आरोप जड़ते रहे हैं, लेकिन सच यह भी है कि सभी जातियां या समुदाय, जनसंख्या में अपनी उपस्थिति के बावजूद सभी दलों से अपने हितों की सुरक्षा की मांग करते हैं और अपने वर्ग के प्रतिनिधियों को चुनाव में उतारने की अपेक्षा करते हैं। ऐसे में राजनीतिक दलों में प्रदेश में हर जाति और वर्ग के लोगों को बारी-बारी से महत्व देने का अंतहीन सिलसिला शुरू होता है, जो हर जगह जारी है।

निश्चित तौर पर वर्तमान सरकार के काम और विफलताओं का जिक्र सभी विपक्षी दल कर रहे हैं, लेकिन अंततः वोट मांगने का आधार जाति, धर्म, वर्ग एवं भाषा ही बनेंगे, इसमें संदेह नहीं है। ऐसे में 2017 के चुनाव के बाद विभिन्न राज्यों में बनी सरकारों के सम्मुख भी विकास एवं जनहित के व्यापक काम करने के बजाय जाति और समुदायों के हित साधने की विवशता बनेगी ही। फिर कब तक लोकतंत्र जाति एवं धर्म के राजनीतिक स्वार्थों के उलझे धागों में उलझा रहेगा ?